वक-संहार

श्रीगणेशायनमः

बक-संहार

सञ्चित किये रक्खे हुए,
शुक-वृन्द के चक्खे हुए,
कुछ फल कि जो थे दीन शबरी के दिये;
खाकर जिन्होंने प्रीति से,
शुभ मुक्ति दी भव-भीति से,
वे राम रक्षक हों धनुर्धारण किये।

आतिथ्य और अतिथि-कथा,
तेरी पुरानी वह प्रथा,
प्राचीन भारत, आज भी सु-नवीन है।
अब अतिथि भिक्षुक मात्र हैं,
अधिकांश अज्ञ अपात्र हैं;
भिक्षा बना व्यवसाय, तू भी दीन है।

हे देश होकर भी गृही,
तू था न यों स्वार्थ-स्पृही।
वह धर्म की ध्रुवता कहाँ तेरी बता?
अब भूत चाहे भूत है,
पर वह बड़ा ही पूत है।
इतिहास देता है हमें उसका पता।

वह विप्र का परिवार था;
शुचि लिप्त घर का द्वार था;
पूजा प्रसूनाकीर्ण थी दृढ़ देहली।
आगत अतिथियों के लिए,
शीतल पवन सुरभित किये,
मानों प्रथम ही थी पड़ी पुष्पाञ्जली।

ऊपर लिखा ओङ्कार था,
फिर बद्ध बन्दनवार था।
शोभित वहाँ पर शान्त-संध्यालोक था।
भीतर अजिर चौकोर था;
दालान चारों ओर था;
सारांश एक गृहस्थ का वह ओक था।

द्विज वर्य विघ्नों से रहित,
वेदी निकट, शिशु सुत सहित,
सानन्द संध्योपासना था कर रहा।
परितृप्त गृह-सुख-भोग से,
मन्त्र-स्वरों के योग से,
मानों भुवन की भावना था हर रहा।

था पास ही तुलसीघरा,
जो वायु-शोधक था हरा;
सुमुखी सुता थी दीप उस पर धर रही।
बस, ब्राह्मणी निश्चल खड़ी,
मुकुलित किये आँखें बड़ी,
कैसे कहें, किस भाव से थी भर रही।

थी शान्ति पूरे तौर से,
ध्वनि सुन पड़ी तब पौर से,—
"गृहनाथ हैं? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ हैं।"
झट ब्राह्मणी चौंकी, चली,
कह कर मधुर वचनावली,
"आओ, अहा! हम सब विशेष सनाथ हैं।"

सचमुच सनाथ हुए सभी,
ऐसे मनुज देखे कभी!
कुन्ती सहित पाण्डव अतिथि थे वे नये।
लाक्षाभवन के साथ ही,
आशा जला कुरुनाथ को,
इस एकचक्रा नगर में थे आगये।

सबने उचित स्वागत किया,
सुख से उन्हें आश्रय दिया;
मृग-चर्म-धारी ब्रह्मचारी पाण्डुसुत
थे शास्त्र अब भी सीखते,
माँ-युक्त थे यों दीखते,—
प्रत्यक्ष मानों पञ्च मख थे, पूर्ति युत!

रुचिकर वहाँ का वास था,
आदेश भी था व्यास का;
इससे वहीं रहने लगे वे प्रीति से।
भिक्षान्न ले आते स्वयं,
माँ को खिला खाते स्वयं;
फिर द्विज निकट अभ्यास करते रीति से।

द्विज और भी हर्षित हुआ,
उन पर समाकर्षित हुआ;
शास्त्राब्धि मन्थन अमृत-हित होने लगा।
विघ-विघ्न भी जाता कहाँ,
बक रूप में निकला वहाँ;
वह धैर्य विप्र-कुटुम्ब का खोने लगा।

जिसमें न हो सबका निधन,
प्रति दिन पुरी से एक जन,
उपहार था उस दैत्य को जाता दिया।
अब विप्र की बारी पड़ी,
कैसी कठिन थी वह घड़ी,
भय-शोक से फटने लगा सबका हिया।

माँ - बेटियाँ रोने लगीं,
अति कातरा होने लगीं।
सुत-युक्त ज्ञानी द्विज सहज गम्भीर था।
पर मृत्यु का संवाद था,
मुख पर विशेष विषाद था;
बस, एक के हित अन्य आज अधीर था।

कुछ देर सन्नाटा रहा,
तब शान्ति से द्विज ने कहा,—
"सम्पूर्ण जीवन सौख्य मैं हूँ पा चुका।
भागी हुआ भव-भाग का,
अब तृप्त हूँ, गृह-त्याग का
मेरे लिए उपयुक्त अवसर आ चुका।

निश्चिन्त हो घर-बार से,
बन कर विरत, संसार से,
सम्बन्ध अपना आप ही मैं तोड़ता।
फिर आत्म-चिन्तन-लीन हो,
दृढ़ योग - मुद्रासीन हो,
मैं यह विनश्वर देह यों ही छोड़ता।

अब काम यह भी आयगी,
निज को सफल कर जायगी।
मैं आज जाऊँगा स्वयं वक के निकट।
तुम लोग शोक करो न यों;
मत हो अधीर डरो न यों;
जब प्राकृतिक है तब मरण कैसा विकट?

संसार में देखो जहाँ,
"सबके विरोधी गुण वहाँ,
जल का अनल ज्यों, त्यों अनल का शत्रु जल।
फिर मृत्यु का ही क्या कहीं,
कोई विरोधी गुण नहीं?
मेरे मरण का शत्रु है जीवन अटल।"

तब ब्राह्मणी बोली—"रहो,
स्वामी न तुम ऐसा कहो।
जीती रहूँ मैं और तुम जाकर मरो!
इससे अधिक परिताप की,
क्या बात होगी पाप की,
कह कर इसे मुझको न धर्मच्युत करो।

उस मृत्यु के मुहँ से कहीं,
कोई बचा सकता नहीं।
पति के लिए मरना स्त्रियों का धर्म है।
मैं किन्तु यदि यह कर सकूँ,
तुमको बचा कर मर सकूँ,
तो कौन-सा इससे अधिक शुभ कर्म है।

यदि तुम नहीं तो फिर यहाँ,
मेरा ठिकाना ही कहाँ?
होकर अनाथा और अबला लोक में—
मैं रह सकूँगी किस तरह;
क्या जी सकूँगी इस तरह,
यह वत्स भी क्या बच सकेगा शोक में?

निश्चिन्त मर कर भी अभी;
तुम हो नहीं सकते कभी;
चिन्ता रहेगी हम अनाथों की सदा।
पर कर नहीं सकता हरण
गृह-शान्ति यह मेरा मरण;
कारण कि होगी दूर कुल की आपदा।

ज्यों ज्यों समय है जा रहा,
गुरु-भार सिर पर आ रहा;
सुत की सुशिक्षा का, सुता के व्याह का।
कैसे करूँगो सिर पड़े
ये कार्य्य मैं दो दो बड़े?
क्या यत्न होगा लोक में निर्वाह का?

अबला जनों की एक दिन
है लाज रहनी भी कठिन,
जिनके लिए पर पुरुष-मय संसार है।
यदि वे अनाथा हों यहाँ,
तो फिर कुशल उनकी कहाँ?
प्रत्येक पद पर विपद-पारावार है।

कुछ काम सङ्कट में सरे,
इस हेतु धन-रक्षा करे,
दारादि की रक्षा करे धन से सदा,
आचार यह अति शिष्ट है,
पर, आत्मरक्षा इष्ट है,
धन से तथा दारादि से भी सर्वदा।

मैं सुत-सुता भी जन चुकी,
कुल-वर्धिनी हूँ बन चुकी।
मेरे विना अब हानि क्या संसार की?
इस हेतु जाने दो मुझे,
यह पुण्य पाने दो मुझे,—
जिससे कि रक्षा हो सके परिवार की।

मैं एक तुममें रत यथा,
तुम एक पत्नीव्रत तथा।
मैं जानती हूँ, तुम कहो न कहो इसे।
पर तुम पुरुष हो, धीर हो,
ज्ञानी, गुणी, गम्भीर हो।
तुम सह सकोगे मैं न सह सकती जिसे।"

तब शील-सद्गुण-संयुता
कहने लगी यों द्विज-सुता,—
"हे तात! हे माँ, तुम सुनो मेरी कही—
सूझी मुझे वह युक्ति है;
जिससे सहज ही मुक्ति है;
आनन्द-पूर्वक मैं बताती हूँ वही।

कल हो कि आज, कि हो अभी,
पर जानते हैं यह सभी,—
है दान की ही वस्तु कन्या लोक में।
तो त्याग तुम मेरा करो,
आपत्ति यों अपनी हरो।
मैं भी बनूँ कुल-कीर्त्ति-धन्या लोक में।

चिन्ता मयी मानों चिता
होती सुता है हे पिता,
आपत्ति-सी है जन्म लेती गेह में।
सम्पत्ति होने दो मुझे,
यह दुःख खोने दो मुझे;
मरने मुझे दो आज अपने स्नेह में।

यदि तुम नहीं तो माँ नहीं,
तुम हो जहाँ वे भी वहीं।
माँ के बिना बच्चा कहाँ बच पायगा?
भाई गया तो क्या रहा,
सम्पूर्ण कुल का कुल बहा।
हा! कौन किसको पिण्ड फिर पहुँचायगा?

पर मैं मरूँ तो ग्लानि क्या,
सब तो बचेंगे हानि क्या ?
इससे मुझे बलि आज होने दो न क्यों ?
लघु लाभ का क्यों लोभ हो,
गुरु हानि का जो क्षोभ हो।
लघु हानि कर गुरु लाभ हो तो लो न क्यों ?

मैं त्याग के ही अर्थ हूँ,
बच भी रहूँ तो व्यर्थ हूँ।
फिर क्यों न मुझको आज ही तुम त्याग दो ?
यह और आगे की सभी
मिट जायँ चिन्ताएँ अभी।
मैं माँगती हूँ, पुण्य का यह भाग दो।

सन्तान वह जो तार दे,
कुल - भार आप उतार दे।
इसको सभी हैं चाहते इस भाव से।
निज-धर्म धारूँ क्यों न मैं,
कुल को उबारूँ क्यों न मैं ?
तुम भी तरो यह विपद्‌नद इस नाव से।"

द्विजवर्य फिर कहने लगा,
करुणाश्रु जल बहने लगा;—
"डालो न मुझको मोह करके मोह में।
यह कथन है समुचित तुम्हें,
है इष्ट मेरा हित तुम्हें;
पर लाभ क्या इस व्यर्थ के विद्रोह में?

पाणिग्रहण जिसका किया,
सब भार जिसका है लिया,
कैसे उसे मैं मृत्यु-मुख में छोड़ दूँ?
होमाग्नि सम्मुख विधिविहित,
जिसको किया निज में निहित,
सम्बन्ध उस सहधर्म्मिणी से तोड़ दूँ?

ब्राह्मणि, सुनो, रोओ न यों,
धीरज धरो, खोओ न यों,
निज हित इसीमें तुम भले ही मान लो।
जो आप वक की बलि बनो,
नव पुत्र-सा कुल-हित जनो।
पर धर्म मेरा क्या? इसे भी जान लो।

हा! और यह कुलपालिका,
मेरी विनीता बालिका,
निज मुख वृथा ही आँसुओं से धो रही।
यह आँख मेरी दूसरी,
छिन पाँख मेरी दूसरी,
मेरे लिए है आप ही हत हो रही।

पर, पुत्रि, इसमें सार क्या?
तेरा यहाँ अधिकार क्या?
तू हर सकेगी दूसरे घर की व्यथा।
अधिकार पालन मात्र का—
मुझको कि लालन मात्र का;
सचमुच पराई वस्तु है तू सर्वथा।

जो है धरोहर मात्र ही,
लेगा जिसे सत्पात्र ही,
क्या दैत्य को दूँ मैं उसे उपहार में?
तू ले रही निःश्वास है,
पर, क्या तुझे विश्वास है
मैं पड़ सकूँगा इस अधम अविचार में?

जिसके लिए तू है बनी,
तेरा बनेगा जो धनी,
आज्ञा बिना उसकी तुझे भी स्वत्व क्या ?
जो तू स्वयं कुछ कर सके,
मेरे लिए भी मर सके,
हा ! शान्त हो, इस वन-रुदन में तत्व क्या ?

अबला सदा ही रक्ष्य है
नर-नीति का यह लक्ष्य है।
कैसे न रक्खूँ फिर भला निज नीति में ?
ब्राह्मणि, तुझे क्या भय वहाँ,
ध्रुव धर्म्म की है जय जहाँ ;
पाता नहीं तेरे लिए कुछ भीति मैं।

माना कि अबला नारियाँ,
होतीं सहज सुकुमारियाँ ;
पर, वे चला सकतीं नहीं संसार क्या ?
करुणा-मयी, ममता-मयी,
सेवा-मयी, क्षमता-मयी,
वे कर नहीं सकतीं यहाँ उपकार क्या ?

वह कर्म-कुशला, गुणवती,
तू है कला-शीला, सती,
निर्वाह का क्या सोच सालेगा तुझे ?
करके उचित परिचालना,
इस पुत्र को तू पालना;
"होकर युवक यह आप पालेगा तुझे"

बैठी बहन के स्कन्ध पर,
रक्खे हुए निज वाम कर,
कुल-दीप-सा बालक खड़ा था स्थिर वहाँ।
पाकर समय उसने कहा,
थी तोतली वाणी अहा!
"मालूँ अचुल को मैं अभी, वह है कहाँ?"

थी शोक की छाई घटा,
उसमें उठी विद्युच्छटा।
रोते हँसे, हँसते हुए रोये सभी।
तब ब्राह्मणी ने सिर धुना,
वह शब्द कुन्ती ने सुना।
वह वायु-गति से आप आ पहुँची तभी।

"यह शोक कैसा है अरे !
तुम लोग क्यों आँसू भरे ?
आपत्ति क्या तुम पर अचानक आ पड़ी।
क्या भय उपस्थित है कहो,
आत्मीय हूँ मैं भी अहो !
जो कर सकूँ, तैयार हूँ मैं हर घड़ी।"

तब विप्र ने बक की कथा,
अपनी तथा सबकी व्यथा,
उसको सुनाई दुःख से, निर्वेद से।
सारी अवस्था जान कर,
अति दुःख मन में मान कर,
कहने लगी कुन्ती वचन यों खेद से,—

"हा ! देश यह असहाय है;
मरता, न करता हाय है !
मुझसे कहो, राजा यहाँ का कौन है ?
कुछ यत्न वह करता नहीं,
कर्त्तव्य से डरता नहीं ?
मरती प्रजा है और रहता मौन है।

यदि भीरु वह दुर्बलमना,
तो व्यर्थ क्यों राजा बना ?
कर दे रहे हो तुम उसे किस बात का ?
राजा प्रजा के अर्थ है,
यदि वह अपटु, असमर्थ है,
कारण वही है तो स्वयं उत्पात का।

सबके सदृश उस भूप को,
उस पाप के प्रतिरूप को,
बक के लिए बारी कभी पड़ती नहीं ?
जूझे कि निज पद त्याग दे;
सबके सदृश बलि भाग दे;
न्यायार्थ क्यों उससे प्रजा लड़ती नहीं ?

राजा प्रजा का पात्र है,
वह लोक-प्रतिनिधि मात्र है।
यदि वह प्रजा-पालक नहीं तो त्याज्य है।
हम दूसरा राजा चुनें।
जो सब तरह अपनी सुनें;
कारण, प्रजा का ही असल में राज्य है।

पर है यहाँ की जो प्रजा,
जो है बनी बलि की अजा;
वह भीरु है, फिर ठीक ही यह कष्ट है।
डालें नहीं तो यदि अभी,
भर धूल मुट्ठी भर सभी;
तो धूल में मिल जाय बक, सो स्पष्ट है।

जो हो, कहो हे भूमिसुर,
तुम छोड़ कर यह पापपुर,
अन्यत्र ही न चले गये कुल-युक्त क्यों?
पृथ्वी पृथुल है, पार क्या?
ऐसा यहाँ था सार क्या?
जाते कहीं होते न तो बक-भुक्त यों।"

द्विज ने कहा—(कुन्ती रुकी)
"जो बात निश्चित हो चुकी,
किस भाँति मैं उससे भला मुहँ मोड़ता?
अच्छा बुरा जैसा सही,
बक-संग समझौता यही,
सबने किया है, किस तरह मैं तोड़ता?

सबको विपद में छोड़ कर,
किस धर्म-धन को जोड़ कर,
भद्रे, यहाँ से भाग जाता हाय! मैं?
सबकी दशा जो हो यहाँ,
मैं भागता उससे कहाँ?
निज हेतु क्या सब पर करूँ अन्याय मैं?

जाकर रहे कोई कहीं,
यह देह रहने को नहीं;
आत्मा परन्तु कभी कहीं मरता नहीं।
जो कर्म तत्प्रतिकूल है,
करना उसे फिर भूल है।
मैं धर्म के प्रतिकूल कुछ करता नहीं।

मैं भाग सकता था यथा,
सब भाग सकते थे तथा;
रहती व्यवस्था ही कहाँ से फिर यहाँ?
इस मृत्यु में फिर भी नियम—
है और सबके हेतु सम;
पर अव्यवस्थित त्राण पा सकते कहाँ?

राजा विवश है क्या करे,
यदि वह लड़े भी तो मरे।
बल है विपुल बक का, प्रजा लाचार है।
उद्योग-रत सब लोग हैं,
पर क्या सहज शुभ-योग हैं?
यों एक के सिर नित्य सबका भार है।

जन एक देता प्राण है,
होता सभीका त्राण है;
सबके लिए निज नाश करना भी भला।
फिर किस तरह मैं भागता,
निज जन्मभू को त्यागता?
इस भाइयों के साथ मरना भी भला।"

"पर मरण क्या उसका भला,—
तुप-तुल्य जो धीरे जला?
उसकी अपेक्षा भभक जाना ठीक है।
है तेज तो उसमें तनिक,
चकचौंध होती है क्षणिक।
हा! एक ही सबको तुम्हारी लीक है!

द्विज देवता, मैं क्या कहूँ,
पर मौन भी कैसे रहूँ?
निज जन्मभू की भी दुहाई व्यर्थ है।
क्या जन्मभू है हाय! सो,
निज मृत्युभू बन जाय जो,
विस्तीर्ण वसुधा भर हमारे अर्थ है।

पर शक्ति हममें चाहिए,
अनुरक्ति हममें चाहिए;
निर्बल जनों का विश्व में कोई नहीं।"
कुन्ती सिहर कर चुप हुई,
(वहरी वटा फिर घुप हुई)
भर नेत्र आये किन्तु वह रोई नहीं।

धर धैर्य फिर कहने लगी,
वाणी परम प्रियता-पगी,—
"कुछ हो, सभी निश्चिन्त तुम बक से रहो।
बस है तुम्हारे एक सुत,
पर, पाँच हैं मेरे अयुत;
दूँगी तुम्हें मैं एक उनमें से अहो!"

इस वार दो आँसू चुए,
सब लोग विस्मित-से हुए;
द्विज ने कहा—"यह क्या अरे! यह क्या शुभे!
तुम अतिथि, मुझको मान्य हो,
तेजोनिधान, वदान्य हो;
माना तुम्हें, कण्टक हमारे हैं चुभे।

पर धर्म क्या मेरा यही,
सह क्या इसे लेगी मही?
आश्रय दिया था क्या तुम्हें बलि के लिए?
मुझको, न तुमको भी सुनो,
यह उचित है, समझो गुनो।
सम्भव नहीं यह छुति स्वयं कलि के लिए।"

"हे विप्र"—कुन्ती ने कहा,
"यह भूमि है सर्वसहा।
कलि और कृत युग हैं यहाँ देखो जभी।
मिल कर सदैव बुरा-भला,
संसार जाता है चला।
होते बुरे न भले सभी जन हैं कभी।

निज धर्म तुम हो जानते ;
हमको बहुत कुछ मानते ;
निज धर्म मैं भी जानती हूँ फिर कहो ,
जिसने हमें आश्रय दिया ,
सन्तुष्ट सब विध है किया ,
उपकार उसका आज क्या हमसे न हो ?"

"उपकार"-द्विज बोला वहीं—
"क्या प्राण देकर भी ? नहीं ,
जो प्राण से भी प्रिय अधिक है सृष्टि में ,
वह पुत्र बलि देकर ? हरे !
क्या कर रही हो तुम अरे !
यह तेज कैसा है तुम्हारी दृष्टि में !

देवी, कहो तुम कौन हो ,
क्यों मूर्ति बन कर मौन हो?
दृढ़ता नहीं देखी कहीं ऐसी कभी ।
अच्छा रहो, यह तो सुनो ,
तुम कौन सुत दोगी ? चुनो ;
दोगी तथा कैसे सुनूँ यह तो अभी ?"

"हे विप्रवर, पूछो न यह।"
कुन्ती सकी आगे न कह।
द्विज-पुत्र घुटनों में लिपट कर था खड़ा।
उसको उठाकर गोद में,
मुहँ चूम करुणाऽमोद में,
बोली कि—"मेरे वत्स, तू बन जा बड़ा।"

माँ-बेटियाँ अब रो उठीं,
आकुल अधीरा हो उठीं
रहने लगी सविषाद विप्र कुटुम्बिनी,—
"यह शिशु तुम्हारा ही रहे,
शत बार तुमको माँ कहे।
हो रक्षिका इसकी तुम्हीं, मुख-चुम्बिनी।

द्विज-बालिका फिर कह उठी,
घृत-पुत्तली गल, बह उठी,—
"पर-हेतु आर्ये, तुम विपद में क्यों पड़ो?"
"बेटी, बड़ा सुख है यही।"
यह बात कुन्ती ने कही—
"तुम भी सदा पर-संकटों से यों लड़ो।

भोजन बनाओ, अब उठो,
निज कार्य साधो, सब उठो;
तुमको अभय-दायक वचन मैंने दिये।
मेरे लिए चिन्ता तजो,
भगवान को निर्भय भजो;
प्रभु जो करेगा सब भले के ही लिए।"

पाकर अभय का दान भी,
उसको अयाचित मान भी,
द्विज-धर्म-भीरु न पा सका सन्तोष कुछ।
जिसमें पराई हानि है,
उस लाभ में भी ग्लानि है;
भरता नहीं है स्वार्थ से शुभ-कोष कुछ।

उसने कहा—"हे त्यागिनी,
हे सर्वथा शुभ भागिनी,
उपकार भी सहनीय होना चाहिए।
मैं आज इससे दब रहा,
फिर जाय यह क्यों कर सहा,
हाँ, भार भी वहनीय होना चाहिए।

सब सुत तुम्हारे धन्य हैं ;
गुण-रूप-शील अनन्य हैं ;
बल-वीर्य, विद्या-बुद्धि से वे हैं भरे।
वे पाँच पंच बने रहें ;
क्यों व्यर्थ यह बाधा सहें ;
उनको बहुत-से कार्य करने हैं हरे !"

"तो एक यह भी कार्य है ,
यह भी उन्हें अनिवार्य है ,
आशीष दो कर लें इसे भी सिद्ध वे।
या तो असुर को मार कर ?
हाँ धन्य पुर-उपकार कर ;
या कीर्त्ति लें कर सूर्य-मण्डल विद्ध वे।

यह कौन ऐसा भार है ,
जिसका विशेष विचार है ?
यह है हमारी अल्पमात्र कृतज्ञता।
कैसे न फिर यह व्यक्त हो ,
तुम विप्रवर, न विरक्त हो ;
कर जायँ क्या हम जान कर भी अज्ञता ?"

यों प्रश्न-पूर्वक निज कथा
नि:शेष कर मानों वृथा,
कुन्ती विना उत्तर लिये निर्गत हुई।
ठहरी न वह, न ठहर सकी,
अति कार्य कर मानों थकी;
बाहर अटल थी किन्तु भीतर हत हुई।

आ शीघ्र अपने स्थान पर,
सिर रख स्वभुज उपधान पर,
वह लेट कर कहने लगी यों आप ही—
"हे प्राण, तुम पाषाण हो,
अब आप अपने शाण हो,
हा! दैव मेरे अर्थ है सन्ताप ही।

केवल कहा ही है अभी,
अविशिष्ट है करना सभी,
पर मन, अभी से तू विकल होने लगा।
ऐसे चलेगा काम क्या,
तेरा रहेगा नाम क्या?
आरम्भ में ही हाय! तू रोने लगा।

स्वामी गये शिशु छोड़ कर ,
राजत्व उनका जोड़ कर ,
वह भी गया, अब हाय ! क्या सुत भी चले ?
प्रभु, क्यों मुझे इतना दिया ,
जो फिर सभी लौटा लिया ;
छल कर मुझे क्यों आप अपने से छले ?

जिनके यहाँ दो दिन रही ,
उपकार जिनका है यही ,
मरने न जाने दे रही हूँ मैं उन्हें ।
फिर वक-निकट चिरभक्ति-मय ,
जाने मुझे देंगे तनय—
जो गर्भ से ही से रही हूँ मैं उन्हें ?

भगवान, मैं ही किस तरह ,
जाने उन्हें दूँ इस तरह ;
क्या मारने को ही उन्हें मैंने जना ?
प्रभुवर, परीक्षा लो न यों ;
तुम वज्र-निर्दय हो न यों ;
अबला सदा , दयनीय हूँ मैं मृदुमना !

तुम किन्तु निश्चय कर यही,
यदि हो रहे हो आग्रही,
स्वीकार है तो मैं जियूँ चाहे मरूँ।
ले लो प्रभो, सब जो दिया,
मैंने हृदय दृढ़ कर लिया;
पर यह बता दो क्या करूँ मैं, क्या करूँ?"

कर्त्तव्य कुन्ती कर चुकी,
वह विप्र-विपदा हर चुकी;
वात्सल्य-वश अब हो उठी विचलित वही।
जो थी शिला-सी निश्चला,
अब रुँध गया उसका गला;
वह देर तक जल-मग्न-सी लेटी रही।

वह लीन थी भगवन्त में,
हलका हुआ जी अन्त में;
हाँ, बढ़ गई अत्यन्त ही गम्भीरता।
जब वीर पुत्रों से मिली;
तब फिर तनिक काँपी-हिली।
पर, अन्य क्षण मानों प्रकट थी धीरता!

जो था हुआ सब कह गई,
सुत-समिति विस्मित रह गई।
बोले युधिष्ठिर तब कि "माँ, यह क्या किया?
पर-हेतु मरने के लिए,
निज सुत, बिना अकधक किये,
किस भाँति भेजेगा तुम्हारा यह हिया?

मुझको समझ पड़ता नहीं।"
माँ ने दिया उत्तर वहीं,—
"यह हृदय ऐसा ही बना है क्या कहूँ?
ऐसा जटिल, पूछूँ किसे,
विधि ने बनाया क्यों इसे;
अबला रहूँ मैं और हा! सब कुछ सहूँ!

यह दैव का अन्याय है;
पर वत्स कौन उपाय है?
पूछो न तुम इस हृदय की कुछ भी दशा।
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को आगे किये,
देती विदा हैं गर्व कर हम कर्कशा।

फिर भी हृदय फटता नहीं,
उलटा प्रमद अटता नहीं।
पर, दूसरे के दुःख में मेरा हिया,
करुणार्द्र होता है स्वयं,
शिशु-तुल्य रोता है स्वयं;
श्रीव्यास ने इसको यही शिक्षण दिया।"

सब पाण्डु-सुत गद्गद हुए,
आनन्द से उन्मत्त हुए,—
"समुचित हमारी जन्मदा को है यही।
हमने परीक्षा ली वृथा।"
हँस कर पुनः बोली पृथा—
"बेटा, परीक्षा तो नियति ही ले रही!"

फिर हो गई गम्भीर वह,
जिसमें कि हो न अधीर वह;
माना न किन्तु तथापि माँ का अश्रुजल।
दो बूँद बह कर ही रहा,
सहदेव ने तब यों कहा,—
"बलि दो मुझे माँ, जन्म मेरा हो सुफल।"

"पुनरपि परीक्षा, हाय रे !
कैसे सहा यह जाय रे !
उसने कहा—"बेटा, तुम्हें बलि दूँ ? रहो ;
दो पुत्र माद्री ने जने,
दो ही रहें मेरे बने।
बस, इस विषय में अब न तुम कुछ भी कहो।"

तब वीर अर्जुन ने कहा,—
"माँ, तुम मुझे भेजो, अहा !
सब जानते हैं 'पार्थ' मेरा नाम है।"
पर भीम ने रोका उन्हें,
सप्रेम अवलोका उन्हें,—
"ठहरो तनिक तुम, भीम का यह काम है।

लघु तुम, तथा गुरु आर्य हैं ;
क्या ये तुम्हारे कार्य हैं ?
माँ, ठीक है बस, किन्तु तुम क्यों रो उठीं ?
समझा, समझ में आ गया,
कर्त्तव्य कृतिपन पा गया ;
वात्सल्य-वश अब हाय ! विचलित हो उठीं।

पर माँ, न तुम कुछ भय करो,
निज भीम का जय जय करो;
इन बाहुओं में बल नहीं निस्सीम क्या?
इन युग्म के रहते हुए,
वक - मुष्टियाँ सहते हुए,
पशु-तुल्य मरने को हुआ है भीम क्या?

वक से बहुत जन हैं मरे,
उसने लिए बहु ओसरे;
आगे उसीकी जान लो, अब आगई।
बलवान कम न हिडिम्ब था,
यम का पृथुल प्रतिबिम्ब था;
पर, शत्रुता मेरी उसे भी खा गई।

सबको यहाँ अब हर्ष हो,
मेरा नया उत्कर्ष हो;
समझो इसे हे अम्ब, तुम शुभ योग ही।
निष्फल निरख कर निज गदा,
कहता यहाँ मैं था सदा,—
'क्या भाग्य में है हाय! भिक्षा भोग ही?'

खुजली मिटेगी कल जरा,
हो जायगा फिर बल हरा;
दुर्दान्त पापी दैत्य मारा जायगा।
पक्वान्न जो बक के लिए,
बलि-संग जाते हैं दिये;
"माँ, स्वादु उनका भी मुझे ही आयगा!"

हँसती तथा रोती हुई,
सुध-बुध सभी खोती हुई,
कहने लगी कुन्ती कि—"सब जीते रहो,
मेरी तुम्हींसे आस है,
मन में बड़ा विश्वास है;
तुम नित नये यश का अमृत पीते रहो।

सब शत्रुओं को मार कर,
पितृ राज्य का उद्धार कर,
भोगो सभी सुख-भोग मिलकर सर्वदा।
गुण-गण तुम्हारे गेय हों,
अनुपम चरित चिर ध्येय हों;—
दृष्टान्त हो सम्पद्-विपद में तुम सदा!"

प्रेमाश्रुओं की सृष्टि से,
दर्शन न पाकर दृष्टि से,
पाँचों सुतों को युग करों से घेर कर,
कुन्ती परम प्रमुदित हुई,
मानों उषा समुदित हुई,
सरसीरुहों पर निज कनक-कर फेर कर।

इसके अनन्तर किस तरह,
(हरि मत्त करि को जिस तरह)
बक-वध वृकोदर ने किया पर दिन वहाँ,—
लिखते नहीं अब हम इसे,
पढ़ना यही प्रिय हो जिसे,
कृपया क्षमा कर दे हमें वह जन यहाँ।